International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 31-01-2026, Accepted: 03-03-2026, Published: 18-03-2026
Volume 12, Issue 1, 2026, Page No. 242-244

अभागी का स्वर्ग और सती में शरतचन्द्र की नारी–दृष्टि

डॉ. पारोमिता दास
हिंदी विभाग, अतिथि प्राध्यापिका, खुदीराम बोस सेंट्रल कॉलेज, पश्चिम बंगाल, भारत

सारांश
'अभागी का स्वर्ग' और 'सती' दोनों कहानियाँ दिखाती हैं कि शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय स्त्री के जीवन को गहरी मानवता और संवेदनशीलता के साथ देखते हैं। अभागी जन्म से ही अभाव, परित्याग और अपमान से घिरी है, फिर भी अपने मौन त्याग, मातृत्व और गरिमा से एक असाधारण ऊँचाई तक पहुँचती है; उसकी पीड़ा को समाज साधारण समझकर अनदेखा कर देता है। दूसरी ओर "सती" की निर्मला सुशिक्षित और सम्मानित परिवार में रहते हुए भी विवाह–पूर्व मिले उपदेशों, पति–केंद्रित अपेक्षाओं और निरंतर गृहस्थी–भार के कारण उसी पितृसत्तात्मक संरचना का सामना करती है जिसने उसके लिए त्याग को कर्तव्य और स्वयं के जीवन को गौण बना दिया। इन दोनों कथाओं में स्त्री के भीतर का प्रेम त्याग और करुणा के रूप में प्रकट होता है, जो काम से अलग, आत्मा के विस्तार का अनुभव है। अभागी और निर्मला दोनों अपने अपने संसार में संघर्ष, प्रेम और नैतिकता को बिना शोर के जीती हैं। शरतचन्द्र इनके माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि स्त्री को आदर्श या दया की वस्तु नहीं, बल्कि पूर्ण मनुष्य के रूप में समझा जाना चाहिए, जिसके दुःख, इच्छाएँ और अस्तित्व समान सम्मान के योग्य हैं।

मूल शब्दः शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, स्त्री–जीवन, त्याग और करुणा, पितृसत्ता, मातृत्व, आत्मसम्मान, सामाजिक यथार्थ, नारी–चेतना

शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय आधुनिक भारतीय कथा–साहित्य के उन रचनाकारों में हैं जिन्होंने साहित्य को केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं रहने दिया, बल्कि उसे समाज, मनुष्य और जीवन की गहनतम अनुभूतियों से जोड़ा। उनकी कहानियों में जिस संवेदनशीलता, करुणा और जीवन–सत्य का स्पर्श मिलता है, वह उन्हें अपनी पीढ़ी का ही नहीं, बल्कि आने वाली सदियों का कथाकार बना देता है। उनकी दृष्टि सामान्य मनुष्य की पीड़ा से लेकर स्त्री के अनकहे दुख तक फैली हुई है। भारतीय समाज में स्त्री जिस उपेक्षा, असमानता और संघर्ष से घिरी रही है, उसे शरतचन्द्र ने न तो दया का विषय बनाया, न उसे पवित्रता के अतिरंजित आदर्श में बदल दिया। उन्होंने स्त्री को एक जीवित मनुष्य के रूप में समझा उसकी वेदना, उसका त्याग, उसका स्वाभिमान, उसका मौन और उसकी आत्मा का ताप इन सभी को सूक्ष्मता से चित्रित किया। 'अभागी का स्वर्ग' और 'सती' दोनों कहानियाँ इसी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन कथाओं से स्पष्ट होता है कि शरतचन्द्र न केवल समाज–सुधारक थे, बल्कि एक गहन मानव–विश्लेषक भी, जिनके लिए स्त्री के अस्तित्व का सम्मान किसी आदर्श का नहीं, मनुष्य होने का सामान्य अधिकार था।

'अभागी का स्वर्ग' एक ऐसी स्त्री की कथा है जिसे दुनिया ने जन्म से ही 'अभागी' का नाम दे दिया। माँ के मरते ही पिता ने क्रोध में उसे यह नाम दे दिया और यह नाम उसके जीवन का अभिशाप बन गया। वह एक गरीब, दलित वातावरण में जन्मी, जहाँ जीवन पहले से ही संघर्ष था। फिर भी उसके भीतर जो मनुष्य–बोध था, जीवन के प्रति जो अदम्य शक्ति थी, वह उसे किसी साधारण स्त्री से कहीं ऊपर खड़ी करती है। उसकी सहनशीलता, उसका मौन, उसका त्याग और उसका मातृत्व यह सब पाठक के भीतर गहरी करुणा जगाते हैं। बिंदी की माँ का यह कहना कि "कंगाली की माँ जैसी सती–लक्ष्मी इस मुहल्ले में और कोई नहीं"[1] यह केवल किसी भावुक स्तुति का परिणाम नहीं, बल्कि उस चरित्र की स्वाभाविक गरिमा का प्रमाण है। अभागी के जीवन में जहां पति का प्रेम नहीं, सुरक्षा नहीं, भोजन और वस्त्र तक की सुविधा नहीं, वहाँ भी वह टूटती नहीं, वह दूसरों को दोष नहीं देती, वह अपनी नियति से झगड़ा नहीं करती। वह एक ऐसी स्त्री है जिसके भीतर मानो पीड़ा और धैर्य एक साथ रहते हैं। समाज उसे अभागी कहकर उसकी नियति पर मोहर लगाता है, पर उसके भीतर जो नैतिक ऊँचाई है, वह किसी भाग्यशाली या कुलीन स्त्री से कहीं अधिक है।

अभागी का मातृत्व इस कहानी का सबसे मार्मिक पक्ष है। उसका पुत्र कंगाली जब याद करता है कि पिता ने उसे छोड़ देने के बाद भी माँ ने कभी क्रोध नहीं दिखाया, तब पाठक समझता है कि मातृत्व के भीतर छिपा हुआ प्रेम किसी सिद्धांत का विषय नहीं, बल्कि आत्मा की गहन अनुभूति है। शरतचन्द्र ने मातृत्व को देवी के आसन पर नहीं रखा; उन्होंने मातृत्व को मनुष्य की उस सहज करुणा में खोजा जो अपने प्रिय के लिए सब कुछ सह सकती है। अभागी का जीवन इसी करुणा का उदाहरण है। गरीबी, भूख, उपेक्षा और अकेलापन उसके जीवन को तोड़ डालने के लिए पर्याप्त थे, पर वह अपने पुत्र के लिए जीती रही। उसे अपनी पीड़ा से अधिक अपने बेटे का भविष्य महत्त्वपूर्ण लगता है। यही कारण है कि जब कंगाली उसकी बीमारी में लोटा गिरवी रखकर दवा लाता है, तब भी वह उससे डाँटती है क्योंकि उसके भीतर आत्मसम्मान अब भी जीवित है। वह नहीं चाहती कि उसका बेटा उसके कारण अपना माथा झुकाए। यह डाँट उस मानसिक दृढ़ता का प्रमाण है जिसे शरतचन्द्र स्त्री का सबसे बड़ा बल मानते हैं। इसीलिए शरतचंद्र जी के बारे में यह कहा गया है कि–"दलित अपमानित भारतीय नारी के साथ शरतचंद्र ने पग पग पर जिस समझदार पूर्ण सहानुभूति का परिचय दिया है वह भारतीय साहित्य में अमर वस्तु है इसीलिए बंगाल की नारियों ने उनको सानंद अभिनंदन किया।"[2]

अभागी की मृत्यु जिस सामान्यता में होती है, वही इस कहानी का सबसे तीखा व्यंग्य है। "अभागी के जीवन–नाटक का अंतिम अंक सामान्य भाव से समाप्त हुआ"[3] इस एक वाक्य में भारतीय समाज की स्त्री–उदासीनता छिपी है। स्त्री पूरे जीवन श्रम करती है, त्याग करती है, समाज और घर के लिए अपना अस्तित्व मिटा देती है; पर उसका अंत समाज की दृष्टि में किसी घटना के समान भी महत्त्व नहीं रखता। उसका मरना उतना ही साधारण माना जाता है जितना उसका जन्म। यह कथन जितना सरल है, उतना ही भयंकर क्योंकि इस सामान्यता के भीतर स्त्री–जीवन की उपेक्षा का इतिहास छिपा है। शरतचन्द्र इसे स्वीकार नहीं करते; वे इस सामान्यता को असहयोग के भाव से उजागर करते

हैं कि एक मनुष्य, विशेषकर एक ऐसी स्त्री, जिसका जीवन संघर्ष और करुणा से भरा था, उसका अंत "सामान्य" कैसे कहा जा सकता है?

रसिक का जीवनभर अभागी को तिरस्कृत करना और मृत्यु के समय रो पड़ना भी शरतचन्द्र की सामाजिक आलोचना है। यह आँसू प्रेम का परिणाम नहीं, बल्कि मनुष्य की उस देर से जागती हुई जिम्मेदारी का, उस अपराध–बोध का परिणाम है जो अक्सर पुरुष को जीवन के अंत में ही समझ आता है। शरतचन्द्र दिखाते हैं कि स्त्री का प्रेम स्थायी और अटूट होता है, जबकि पुरुष का प्रेम उसकी सुविधा और स्थिति से बंधा होता है। अभागी ने जीवनभर अपने पति को दोष नहीं दिया, पर पति ने जीवनभर उसे भुला दिया। यह विरोधाभास भारतीय विवाह–संरचना की एक गहरी बीमारी को उजागर करता है।

'सती' कहानी इस दृष्टि को एक दूसरी दिशा में मोड़ती है। यहाँ वर्ग, शिक्षा और सामाजिक सुविधा है, पर स्त्री की स्थिति फिर भी उतनी ही जटिल है। विवाह से पहले निर्मला की माँ, ठकुरानी, अपनी बेटी को जो उपदेश देती है, वह भारतीय विवाह–संस्कृति की पूरी मानसिकता को अनावृत कर देता है। ठकुरानी कहती है "पुरुष को आँखों–आँखों में न रखने पर वह हाथ से निकल जाता है।"[4] यह वाक्य केवल एक माँ की चिंता नहीं, बल्कि एक ऐसी मानसिक विरासत है जो हर स्त्री को यह सिखाती आई है कि पति को सँभालना, उसे प्रसन्न रखना, उसकी इच्छाओं को समझना और पूरी करना स्त्री का अनिवार्य कर्तव्य है। इसके पीछे छिपा यथार्थ यह है कि विवाह संस्था में स्त्री को वही "कर्तव्य" सौंपा जाता है जो उसे अपनी स्वतंत्रता, अपनी इच्छाओं, अपने स्वप्नों और यहाँ तक कि अपने मनुष्यत्व को भी पीछे रखने के लिए बाध्य कर देता है।

इसी संदर्भ में जब निर्मला की माँ यह स्वीकार करती है "तुम्हारे पिता ने मुझे न जाने कितना सताया, तड़पाया और परेशान किया... फिर भी मैंने पति सेवा के अपने कर्तव्य से मुंह नहीं मोड़ा और इसीलिए अपने पति को अपने अनुकूल बनाने में सफल हुई"[5] तो यह वाक्य स्त्री के त्याग का गुणगान नहीं करता, बल्कि उस सामाजिक मानसिकता का उद्घाटन करता है जिसने स्त्री को विश्वास दिलाया कि अत्याचार सहकर भी 'पति–सेवा' करना उसकी उत्तमता है। यहाँ शरतचन्द्र उस पीढ़ीगत संस्कार को पहचानते हैं जिसने स्त्री को यह सिखाया कि उसकी सहनशीलता ही उसका मूल्य है।इसी कथा में शरतचन्द्र स्वयं स्पष्ट कहते हैं –"नारी का शरीर ही सब कुछ है, उसके अंतर की कोई कीमत नहीं? क्या हमारे निकट हुए किसी प्रकार की श्रद्धा नहीं पा सकती? मनुष्य का वास्तविक रूप हमें कहां मिलता है उसके देह के आवरण से अथवा उसके अंतर में आचरण से? इसलिए मैं सतीत्व और नारीत्व को एक दूसरे से पृथक मानता हूं।"[6] यह टिप्पणी केवल कहानी का हिस्सा नहीं, यह शरतचन्द्र की वैचारिक रीढ़ है। वे स्त्री को शरीर–केन्द्रित दृष्टि से देखे जाने की मानसिकता का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि स्त्री का वास्तविक मूल्य उसके चरित्र, उसके आचरण, उसकी करुणा, उसके धैर्य, उसके विवेक और उसकी मानवीय ऊँचाई में है, न कि उसके देह–सौंदर्य या उसके दैहिक सतीत्व में। यह विचार अपने समय के लिए अत्यन्त आधुनिक था, क्योंकि समाज उस समय स्त्री के मूल्य को दो चीज़ों में बाँधकर देखता था उसकी दैहिक पवित्रता और उसकी पति के प्रति आज्ञाकारिता। शरतचन्द्र इन दोनों को तोड़कर यह कहते हैं कि नारीत्व एक स्वतंत्र मानवीय सत्ता है और उसका सम्मान इन बाहरी संरचनाओं पर नहीं, उसके अंतर पर आधारित होना चाहिए। शरतचंद्र की रचनाओं में स्त्री की तत्कालीन स्थिति पर पड़े प्रभाव के बारे में यह कथन सही है कि–"भारतीय नारियों ने, जो धर्म, गतानुगतिकता तथा पैसे के संयुक्त मोर्चे के अभियान के आगे युगों से पीसी जा रही थी अब उनकी रचनाओं में अपनी स्वतंत्रता को जैसे लौट पायायुग युगांतर के उनके पैरों की भारी बेड़ियां जैसे झनझना कर टूट गई उन्होंने भी जाना कि जीवन में उनका भी कुछ भाग है जो सर्वदा गौण ही हो ऐसा नहीं।"[7]

निर्मला का जीवन इसी प्रश्न का उत्तर देता है। निर्मला बीस वर्षों से गृहस्थी चला रही है। घर के पुरुष आगे बढ़ गए हरीश जूनियर से सीनियर वकील बन गया, लावण्य का विवाह हो गया, रायबहादुर मर गए, धर्मनिष्ठ मैत्र भी चले गए पर निर्मला की भूमिका ही नहीं बदली। वह आज भी वही काम करती है जो कभी उसे सौंपा गया था। यह नहीं कि उसने शिकायत की; पर समाज यह सोचता है कि यह सब उसके 'कर्तव्य' का हिस्सा है। शरतचन्द्र इस 'कर्तव्य' शब्द के भीतर छिपी हुई असमानता को समझते हैं। स्त्री के त्याग को समाज स्वाभाविक मान लेता है, जबकि पुरुष के छोटे–से योगदान को भी बड़ा गुण मानता है। यह सामाजिक पक्षपात निर्मला के माध्यम से स्पष्ट होता है।

बहू और ननद के बीच जो तीखा संवाद है, वह भी स्त्री–जीवन के भीतर के तनाव को दिखाता है। बहू का यह कहना कि "तुम्हारे दिल में अब आग नहीं उठ सकती"[8] स्त्री के भीतर भरे हुए आक्रोश का प्रतीक है। वह आक्रोश जो समाज ने वर्षों से दबा दिया है। जब वह रोते हुए अपने कमरे में बंद हो जाती है, तो वह केवल क्रोध नहीं, बल्कि मानसिक थकान है। यह स्त्री की उस घुटन का चित्र है जिसे परिवार अक्सर स्त्री की कमजोरी कहकर भूल जाता है। जबकि सच यह है कि स्त्री का यह रोना उसकी असहायता नहीं, बल्कि उसके भीतर जमा हो चुके दबाव का परिणाम है।

इसी कहानी में भक्त वीरेन का स्वर आशा की किरण जैसा है। वह कहता है कि सीता–सावित्री की बातों को जितना महत्व दिया गया है, उतना ही लीलावती और गार्गी की परंपरा को भी दिया जाना चाहिए। स्त्री केवल पतिव्रता नहीं, वह विदुषी भी है, विचारक भी है, समाज को शिक्षित करने वाली भी है। यह कथन शरतचन्द्र के नारी–विचारों को आधुनिक रूप देता है। वे चाहते हैं कि स्त्री और पुरुष समान रूप से शिक्षित हों, समान अधिकारों से युक्त हों, और समाज के निर्माण में समान भागीदारी निभाएँ। नारी–शिक्षा को वह घरेलू मर्यादा–कथाओं की तुलना में कहीं बड़ी चीज़ मानते हैं।

दहेज–प्रथा पर वृद्ध तारिणी चटर्जी का वक्तव्य इस कहानी के सामाजिक पक्ष को और उजागर करता है। वह कहते हैं कि दहेज–प्रथा ने पूरे देश को 'क्षार–क्षार' कर दिया है। यह टिप्पणी एक गहरी सामाजिक बीमारी की ओर संकेत करती है, जिसके कारण विवाह संस्था आर्थिक सौदे में बदल गई है। स्त्री को सम्मान की वस्तु नहीं, खरीद–बिक्री की वस्तु बना दिया गया है। शरतचन्द्र इसे न केवल कहानी में दिखाते हैं, बल्कि उसके विरुद्ध जनता को चेताने की कोशिश भी करते हैं।

इन दोनों कहानियों का संयुक्त पाठ यह बताता है कि शरतचन्द्र स्त्री को न देवी के आसन पर रखते हैं, न उसकी दीनता का महिमामंडन करते हैं। वह उसे मनुष्य के रूप में देखते हैं। एक ऐसे मनुष्य के रूप में जिसे समाज ने सदैव भूमिकाएँ तो दीं, पर अस्तित्व कभी नहीं दिया। अभागी और निर्मला दोनों, दो अलग जीवन स्थितियों की स्त्रियाँ अपने–अपने ढंग से इस अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही हैं। अभागी का संघर्ष गरीबी और अकेलेपन के बीच है; निर्मला का संघर्ष शिक्षित और प्रतिष्ठित परिवार के भीतर है। पर दोनों की पीड़ा का स्रोत समान है समाज की वह संरचना जो स्त्री को बराबर स्थान नहीं देती।इन दोनों कथाओं में प्रेम भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। पर यह प्रेम दैहिक या ऊँचे स्वर में व्यक्त होने वाला प्रेम नहीं, बल्कि मौन त्याग, करुणा और आत्मिक समर्पण का प्रेम है। अभागी अपने बेटे के लिए जिस तरह जीती है, निर्मला अपने परिवार के लिए जिस प्रकार दायित्व निभाती है यह सब प्रेम ही है। शरतचन्द्र काम और प्रेम में स्पष्ट अंतर रखते हैं। उनका मानना है कि काम स्वसुखी और

तत्कालिक है, जबकि प्रेम त्याग, परमार्थ और स्थायित्व का भाव है। स्त्री के भीतर यह प्रेम अधिक गहराई से मौजूद है, और पुरुष के भीतर इसकी कमी बार–बार उजागर होती है।

अंततः, 'अभागी का स्वर्ग' और 'सती', दोनों कहानियाँ यह सिद्ध करती हैं कि शरतचन्द्र के लिए स्त्री केवल सहनशीलता की मूर्ति नहीं, बल्कि चेतना, संवेदना, आत्मसम्मान और मनुष्यत्व की संपूर्ण अधिकारी है। उन्होंने स्त्री को उसके वास्तविक रूप में देखने की हिम्मत दिखाई, एक ऐसी सत्ता के रूप में जो दुःख सहती है, पर टूटती नहीं; जो प्रेम करती है, पर आत्मसम्मान नहीं छोड़ती; जो समाज चलाती है, पर समाज उसे बराबरी नहीं देता। शरतचन्द्र की कहानियाँ आज भी इसलिए जीवित हैं, क्योंकि वे केवल अतीत की घटनाएँ नहीं, हमारे वर्तमान समाज का भी आईना हैं। स्त्री की स्थिति आज भी कई रूपों में वही है, वह आज भी घर की धुरी है, पर उसकी भूमिका को बराबरी का सम्मान नहीं मिलता; वह आज भी अपने परिवार को संभालती है, पर उसका श्रम सामान्य माना जाता है। शरतचन्द्र का साहित्य हमें यह सोचने पर बाध्य करता है कि स्त्री को यदि सच्चा सम्मान देना है, तो उसे देवी बनाकर नहीं, मनुष्य बनाकर देखना होगा।

संदर्भ सूची

1. शरतचंद्र, शरतचंद्र की 41 सर्वश्रेष्ठ कहानियां, प्रकाशक मनोज पब्लिकेशन,761 दिल्ली 110084, संस्करण 2024, पृष्ठ 16
2. -https://ia601401.us.archive.org/26/items/in-ernet-dli.2015.525660@2015-525660-Sharatchandra–text.pdf
3. शरतचंद्र, शरतचंद्र की 41 सर्वश्रेष्ठ कहानियां, प्रकाशक मनोज पब्लिकेशन,761 दिल्ली 110084, संस्करण 2024, पृष्ठ18
4. वही,पृष्ठ –41
5. वही,पृष्ठ– 42
6. वही,पृष्ठ– 164
7. -https://ia601401-us-archive-org/26/items/in-ernet.dli.2015-525660/2015-525660 Sharatchandra–text.pdf
8. शरतचंद्र, शरतचंद्र की 41 सर्वश्रेष्ठ कहानियां, प्रकाशक मनोज पब्लिकेशन,761 दिल्ली 110084, संस्करण 2024, पृष्ठ– 50